Original Research Paper History

जैन दर्शन मे तत्वो का स्वरूप

Dr. Jubeda Mirzaj M.A., Ph. D., Sr.Lecturer, Government Girls PG College, Sikar (Rajasthan)

Mrs Suman Choudhary RESERCH SCOLAR, Deaprment of History, Univercity of Rajasthan

KEYWORDS :

1. जीव तत्त्व –

जीव तत्त्व चेतना लक्षण वाला है।[1] वह कर्त्ता है, भोक्ता है, शरीर प्रमाण है, ऊर्ध्वगामी और उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्ययुक्त है। आत्मा में स्वभावतः वीतरागता, चेतना, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुण वर्तमान है पर संयोग से राग, द्वेष, तृष्णा, दुःख आदि विकार आत्मा में निहित है। अतः आत्मा के यथार्थ स्वरूप द्वारा ही विकारी और पर संयोगी प्रवृति को दूर कर उसे शुद्ध और निर्मल बनाया जा सकता है। रोगी को जब तक अपने मूलभूत आरोग्य स्वरूप का ज्ञान न हो, तब तक उसे यह निश्चय नहीं हो सकता है कि मेरी यह अस्वस्थ अवस्था रोग है, इससे छुटकारा पाने के लिए प्रयास करना मेरा कर्त्तव्य है। अपने उत्थान और पतन के लिए जीव स्वयं ही उत्तरदायी है। अपने कार्यों से ही वह बँधता है और अपने कार्यों से ही वह उस बन्धन से मुक्त होता है। अन्य कोई उसे न बाँधता है और न बन्धन से मुक्त करता है। अपनी उन्नति या अवनति का दायित्व जीव पर ही निर्भर है। अपने द्वारा बाँधे गये कर्मों के फल को भोगते समय जीव के जो भाव होते हैं, जीव उन भावों का कर्त्ता माना जाता है। जिस प्रकार जीव अपने भावों का कर्त्ता है, उसी तरह उनका भोक्ता भी है। यदि आत्मा सुख – दुःख का भोक्ता न हो तो सुख – दुःख की अनुभूति ही नहीं हो सकती और यह अनुभूति चैतन्य का धर्म है।[2]

जीव का वर्गीकरण मुक्ति–योग्यता, वर्तमान – स्थिति, अवस्था विशेष एवं इन्द्रिय संवेदन के आधार पर किया गया है। प्रथम प्रकार की अपेक्षा जीव के दो भेद हैं – भव्य और अभव्य। जिसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र उत्पन्न होने की क्षमता – मुक्ति प्राप्त करने की योग्यता हो, वह भव्य और जिसमें इस प्रकार की योग्यता न हो, वह अभव्य है। वर्तमान स्थिति की अपेक्षा भी जीव के दो भेद है – संसारी और मुक्त। जो कर्मबद्ध है और एक गति से दूसरी गति से जन्म ग्रहण करता है और मरण को प्राप्त होता है, वह संसारी जीव है तथा जो कर्म बन्ध से छूट कर मुक्त हो चुका है, वह मुक्त जीव है। अवस्थाविशेष – गति की अपेक्षा संसारी जीव चार प्रकार के हैं – नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देव। इस पृथ्वी के नीचे सात नरक हैं, उनमें जो जीव निवास करते हैं वे नारकी है। ऊपर के स्वर्गों में जो निवास करते हैं, वे देव हैं। स्त्री और पुरुषादि मनुष्य गति हैं, शेष पशु, पक्षी, कीड़े–मकोड़े, पेड़–पौधे आदि तिर्यंच गति के जीव हैं। देव, नारकी तथा मनुष्य आदि में पाँचों इन्द्रियाँ होती हैं पर तिर्यंचों में इन्द्रिय संवेदन की अपेक्षा जीवों के पाँच भेद हैं।[3] जलकायिक, पृथ्वीकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवों के केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय जन्य संवेदन ही होता है, उनको ज्ञान प्राप्त करने का माध्यम एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होता है, इन जीवों को स्थावर भी कहा गया है। जैन दर्शन के अनुसार पेड़ – पौधे, जल, अग्नि, पृथ्वी और वायु में भी जीव है। पृथ्वी में कीड़े, मकोड़े तो रहते ही हैं, पर पर्वत, मिट्टी आदि में पृथ्वीकायिक जीव रहता है। इसी प्रकार जल में रहने वाले अनेक जीवों के अतिरिक्त जल स्वयं जलकायिक जीवों के शरीर का पिण्ड हैं इसी प्रकार अग्निकाय और वायुकाय के सम्बन्ध में भी यही बात जाननी चाहिए। लट आदि जीव स्पर्शन और रसना इन्द्रिय से संवेदना प्राप्त करते हैं, अतः इन्हें दो इन्द्रिय जीव कहते हैं। चींटी आदि के स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ हैं और इन तीन इन्द्रियों के द्वारा संवेदन होता है। भ्रमर, मक्खी आदि के स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियाँ होती हैं, तथा सर्प, नेवला, पशु, पक्षी आदि के पाँच इन्द्रियाँ हैं। इन इन्द्रियों के द्वारा उक्त जीव अपने–अपने योग्य स्पर्श , रस, गन्ध, रूप और शब्द का संवेदन ग्रहण करते रहते हैं। काव्य ग्रन्थों में जीव की योनि, जन्म और शरीर आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है।[4]

जैन दर्शन में बहुजीववाद स्वीकार किया गया है तथा प्रत्येक जीव की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की गयी हैं।

2. अजीवतत्त्व

अजीव अचेतना लक्षण से युक्तत है। अजीव द्रव्य के पाँच भेद हैं[5] – पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जो वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श से युक्त है, वह पुद्गल है। यह स्कन्ध अवस्था में पूरण – अन्यान्य परमाणुओं से मिलना और गलन – कुछ परमाणुओं से बिछुडना, इस प्रकार उपचय और अपचय को प्राप्त होता रहे, वह पुद्गल है। समस्त दृश्य जगत् इस पुद्गल का ही विस्तार है। मूल दृष्टि से पुद्गल द्रव्य परमाणुरूप ही है। अनेक परमाणुओं से मिलकर जो स्कन्ध बनता है, वह संयुक्त द्रव्य है। प्रत्येक परमाणु में स्वभावतः एक रस, एक रूप, एक गन्ध और दो स्पर्श होते हैं। स्कन्ध अपने परिणमनों की अपेक्षा छह प्रकार का होता है। बादर–बादर, बादर, बादर–सूक्ष्म, सूक्ष्म–बादर, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म ये छह भेद हैं। पुद्गल द्रव्य के स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश और परमाणु ये चार विभाग होते हैं। अनन्तानन्त परमाणुओं से स्कन्ध बनता है, उससे आधा स्कन्ध देश बनता है, स्कन्धदेश का आधा स्कन्ध प्रदेश होता है। परमाणु अविभागी है। इन्द्रियाँ, शरीर, मन, इन्द्रियों के विषय और श्वासोच्छ्वास आदि सब पुद्गल द्रव्यों के ही विविध परिणमन है।

जीव और पुद्गल के समान धर्म और अधर्म द्रव्य भी दो स्वतन्त्र द्रव्य हैं इनका अर्थ पुण्य–पाप नहीं है। जीव और पुद्गल स्वयं गति स्वभाव वाले हैं, अतः यदि वे गति करते हैं, तो स्वयं रुकने का प्रश्न ही नहीं है। अतः आचार्यों ने लोक और अलोक के विभाग के लिए लोकवर्ती आकाश के बराबर एक अमूर्तिक निष्क्रिय और अखण्ड धर्मद्रव्य माना है, जो गतिशील और पुद्गलों को गमन करने में साधारण कारण होता है। जिस प्रकार मछली के चलने में जल सहायक है (आधुनिक विज्ञान इसे ईथर कहता है)। यह किसी भी द्रव्य को प्रेरणा करके नहीं चलाता है, किन्तु जो स्वयं गति करते हैं, उनको माध्यम बनकर सहारा देते हैं। इसका अस्तित्व लोक के भीतर तो साधारण है, परलोक की सीमाओं पर नियन्त्रक के रूप में है। इसका अस्तित्व लोक के भीतर तो साधारण कारण होता है। सीमाओं पर ही इन दोनों द्रव्यों की शक्ति का पता लगता है। धर्म द्रव्य के कारण समस्त जीव और पुद्गल अपनी यात्रा उसी सीमा तक समाप्त करने को विवश हैं, उससे आगे नहीं जा सकते।[6]

जिस प्रकार धर्म द्रव्य जीव और पुद्गलों की गति के लिए साधारण कारण हैं, उसी प्रकार जीव और पुद्गलों की स्थिति के लिए अधर्मद्रव्य साधारण कारण है। यह भी धर्मद्रव्य के समान लोकाकाश के बराबर है – रूप, रस, गन्ध और शब्द से रहित अमूर्तिक और निष्क्रिय है। ये दोनों द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य–युक्त हैं। लोक और अलोक विभाग इन दोनों द्रव्यों के सद्भाव का फल है।

आकाश जीव, अजीवादि समस्त द्रव्यों को अवगाह–स्थान देता है अर्थात् जीव पुद्गलादि समस्त पदार्थ युगपत् जिसमें अवकाश प्राप्त करते हैं, वह आकाश है। यह भी निष्क्रिय और रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं शब्दादि से रहित होने के कारण अमूर्तिक है। अवकाश दान ही इसका असाधारण गुण है। दिक् द्रव्य का अन्तर्भाव आकाश में ही हो जाता है। पुद्गल का एक परमाणु जितने आकाश को रोकता है, उसे प्रदेश कहते हैं। इस नाप से आकाश अनन्त प्रदेशी हैं। इसके दो भेद हैं – लोकाकाश और अलोकाकाश।

समस्त द्रव्यों के उत्पादादिरूप परिणमन में सहकारी 'कालद्रव्य' होता है। इसका लक्षण–वर्तना है। यह स्वयं परिवर्तन करते हुए अन्य द्रव्यों के परिवर्तन में सहकारी होता है और समस्त लोकाकाश में घड़ी, घण्टा, पल, दिन, रात आदि व्यवहारों में निमित्त होता है। यह भी अन्य द्रव्यों के समान उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है, अमूर्तिक है। प्रत्येक लोकाकाश में प्रदेश पर एक–एक कालाणु अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाये हुए हैं। धर्म और अधर्म के समान यह लोकाकाशव्यापी एक द्रव्य नहीं है, क्योंकि प्रत्येक आकाश प्रदेश पर एक–एक कालाणु अवस्थित है। काल के दो भेद है – निश्चय काल और व्यवहार काल।

इस प्रकार जैन दर्शन में छह द्रव्य और काल द्रव्य को छोड शेष पाँच अस्तिकाय कहलाते हैं। जिसमें गुण और पर्याय पाये जायें वह द्रव्य है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त द्रव्य होता है।

3. आस्रव तत्त्व

कर्मों के आगमन के द्वार को आस्रव कहा गया है। वह द्वार जिसके द्वारा जीवन में सर्वदा कर्मपुद्गलों का आगमन होता है, जीव की एक शक्ति है, जिसे योग कहते हैं। आशय यह है कि हम मन के द्वारा जो कुछ सोचते हैं, वचन के द्वारा जो कुछ बोलते और शरीर के द्वारा जो कुछ हलन–चलन करते हैं, उससे कर्मवर्गणाएँ आत्मा में संचित होती है। आशय यह है कि जिन के भावों से कर्मों का आस्रव होता है, उन्हें भावास्रव और कर्म का आना द्रव्यास्रव कहलाता है। शुभ आस्रव पुण्यास्रव है और अशुभ पापास्रव। अर्थशास्त्र का आस्रव है – निरंकुश ढंग से आवश्यक–अनावश्यक खर्चों का होना और होते जाना।

4. बन्ध

जीव और कर्म के प्रदेशों का परस्पर अनुप्रवेश–क्षीर नीर के समान एक क्षेत्रावगाह होना बन्ध है।[8] दो पदार्थों के विशिष्ट सम्बन्ध को बन्ध कहते हैं। बन्ध दो प्रकार का है – एक भाव बन्ध और दूसरा द्रव्य बन्ध – जिन राग–द्वेष और मोह आदि विकारी भावों से कर्मों का बन्ध होता है, उन भावों को भाव बन्ध कहते हैं और कर्म पुद्गलों का आत्म प्रदेशों से सम्बन्ध होना द्रव्य बन्ध कहलाता है। द्रव्य बन्ध आत्मा और पुद्गल का सम्बन्ध है। आर्थिक दृष्टि से खर्च कर लेना, ऋण का बढ़ जाना और उसका हर्ज होना यह अभिलेखीकरण ही बन्ध कहलाता है।

5. संवर

आस्रव का निरोध होना संवर है।[9] जिन द्वारों से कर्मों का आस्रव होता था, उन द्वारों का निरोध करना संवर है। आस्रव योग–मन, वचन और काय से होता है, अतः योग को रोकना ही संवर है। आर्थिक दृष्टिकोण से निरंकुश ढंग से आवश्यक–अनावश्यक खर्चों पर संयमित जीवन दृष्टि विराम लगाती है। यह विराम ही संवर है। ऋणों पर विराम लगाना संवर ही कहलाता है।

6. निर्जरा

एक देश कर्मों का क्षय होना निर्जरा का लक्षण है।[10] पूर्वबद्ध कर्मों को थोड़ा–थोड़ा नष्ट करना निर्जरा है। यह दो प्रकार की है – औपक्रमिक या अविपाक और दूसरी अनौपक्रमिक या सविपाक। तप आदि साधनाओं के द्वारा कर्मों का फल झड़ते जाना सविपाक निर्जरा है। यह सविपाक निर्जरा प्रति समय प्रत्येक प्राणी के होती रहती है। व्यक्ति अपने पुरुषार्थ से अपने संचित कर्मों को उदयावस्था को प्राप्त हुए बिना ही नष्ट कर सकता है। संवरपूर्वक सम्पन्न होने वाली निर्जरा ही कर्म मुक्ति का कारण है। आर्थिक दृष्टि से ऋण को चुकाते जाना, धीरे–धीरे ऋण मुक्ति की ओर बढ़ना निर्जरा है।

7. मोक्ष

समस्त कर्मों का छूट जाना मोक्ष कहलाता हैं।[11] मोक्ष या मुक्ति शब्द का अर्थ ही छुटकारा है। जीव समस्त कर्मबन्धन से छूट जाता है तो वह मुक्त जीव कहलाता है।

पूर्वोक्त सात तत्त्वों में जीव और अजीव दो मूल तत्त्व हैं, इनके संयोग से ही संसार की सृष्टि होती है। संसार के मूल कारण आस्रव और बन्ध हैं तथा संसार से युक्त होने के कारण संवर और निर्जरा है। संवर और निर्जरा के द्वारा जीव को जो पद प्राप्त होता है, वह मोक्ष है, यह मोक्ष ही जीव का चरम लक्ष्य है।

---

1. महाकवि असग : शान्तिनाथ पुराण, सम्पादक – डॉ. हीरालाल जैन, अनुवादक – डॉ. पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य, प्रकाशक – जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, 1977, 15/68
2. शास्त्री , डॉ. नेमिचन्द्र : संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, प्रकाशक – भारतीय ज्ञान पीठ, नई दिल्ली, 1971, पृ. 627
3. शास्त्री, डॉ. नेमिचन्द्र : संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, प्रकाशक – भारतीय ज्ञान पीठ, नई दिल्ली, 1971, पृ. 627–628
4. शास्त्री, डॉ. नेमिचन्द्र : संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, प्रकाशक – भारतीय ज्ञान पीठ, नई दिल्ली, 1971, पृ. 628
5. महाकवि असग : शान्तिनाथ पुराण, सम्पादक – डॉ. हीरालाल जैन, अनुवादक – डॉ. पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य, प्रकाशक – जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, 1977, 15/127
6. आचार्य वीरनन्दी : चन्द्रप्रभ चरित, अनुवादक एवं सम्पादक – पं. अमृतलाल शास्त्री, प्रकाशक – भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्, भोलानाथ नगर, शाहदरा दिल्ली, 1990, 18/69–70, पृ. 441–42
7. महाकवि असग : शान्तिनाथ पुराण, सम्पादक – डॉ. हीरालाल जैन, अनुवादक – डॉ. पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य, प्रकाशक – जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, 1977, 15/68
8. महाकवि असग : शान्तिनाथ पुराण, सम्पादक – डॉ. हीरालाल जैन, अनुवादक – डॉ. पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य, प्रकाशक – जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, 1977, 15/69
9. महाकवि असग : शान्तिनाथ पुराण, सम्पादक – डॉ. हीरालाल जैन, अनुवादक – डॉ. पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य, प्रकाशक – जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, 1977, 15/69
10. महाकवि असग : शान्तिनाथ पुराण, सम्पादक – डॉ. हीरालाल जैन, अनुवादक – डॉ. पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य, प्रकाशक – जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, 1977, 15/70
11. महाकवि असग : शान्तिनाथ पुराण, सम्पादक – डॉ. हीरालाल जैन, अनुवादक – डॉ. पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य, प्रकाशक – जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, 1977, 15/70